

५. श्रीसञ्जयन्तमुनेः कथा

श्रीमज्जैनपदाम्भोजयुग्मं नत्वा सुखप्रदम्। सञ्जयन्तमुनेर्वच्यं सत्तपोद्योतने कथाम् ॥१॥
जम्बूद्वीपे महामेरोः पश्चिमास्थे विदेहके। विषये गन्धमालिन्यां वीतशोकपुरे ॥२॥
वैजयन्तो महाराजो भव्यश्री नाम तत्प्रिया। सञ्जयन्तजयन्ताख्यौ सञ्जातौ सुसुतौ तयोः ॥३॥
एकदा स महीनाथो विजयन्तोऽतिनिर्मलः। विद्युत्पातेन संवीक्ष्य मरणं पट्टहस्तिनः ॥४॥
महावैराग्यसम्पन्नो पुत्राभ्यां राज्यसम्पदम्। ददानो भणितस्ताभ्यां भो पितश्चेदिदं शुभम् ॥५॥
कथं सन्त्यज्यते राज्यं युष्माभिः सुविक्षणैः। आवाभ्यां न ततस्तात राज्यं तद्गृह्यते सुधीः ॥६॥
ततो राज्यं बुधैस्त्याज्यं सञ्जयन्तसुताय च। वैजयन्ताय दत्वेति गृहीतं सुतपस्त्रिभिः ॥७॥
विशिष्टं स तपः कुर्वन्पिता सद्भयानवह्निना। घातिकर्मन्धनं दग्ध्वा प्राप्तवान्केवलश्रियम् ॥८॥
केवलज्ञानपूजार्थं सञ्जाते मरुदागमे। मुनिर्जयन्तनामासौ संविलोक्य तदा लघुः ॥९॥

५. संजयन्त मुनि की कथा

सुख के देने वाले श्री जिन भगवान् के चरण कमलों को नमस्कार कर श्रीसंजयन्त मुनिराज की कथा लिखता हूँ, जिन्होंने सम्यक् तप का उद्योत किया था। सुमेरु के पश्चिम की ओर विदेह के अन्तर्गत गन्धमालिनी नाम का देश है। उसकी प्रधान राजधानी वीतशोकपुर है। जिस समय की बात हम लिख रहे हैं, उस समय उसके राजा वैजयन्त थे। उनकी महारानी का नाम भव्यश्री था। उनके दो पुत्र थे। उनके नाम थे संजयन्त और जयन्त ॥१-५॥

एक दिन की बात है कि बिजली के गिरने से महाराज वैजयन्त का प्रधान हाथी मर गया। यह देख उन्हें संसार से बड़ा वैराग्य हुआ। उन्होंने राज्य छोड़ने का निश्चय कर अपने दोनों पुत्रों को बुलाया और उन्हें राज्य भार सौंपना चाहा; तब दोनों भाईयों ने उनसे कहा—पिताजी, राज्य तो संसार के बढ़ाने का कारण है, इससे तो उल्टा हमें सुख की जगह दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिए हम तो इसे नहीं लेते। आप भी तो इसीलिए छोड़ते हैं न ? कि यह बुरा है, पाप का कारण है। इसीलिए हमारा तो विश्वास है कि बुद्धिमानों को, आत्म हित के चाहने वालों को, राज्य सरीखी झंझटों को शिर पर उठाकर अपनी स्वाभाविक शान्ति को नष्ट नहीं करना चाहिए। यही विचार कर हम राज्य लेना उचित नहीं समझते। बल्कि हम तो आपके साथ ही साधु बनकर अपना आत्महित करेंगे ॥६॥

वैजयन्त ने पुत्रों पर अधिक दबाव न डालकर उनकी इच्छा के अनुसार उन्हें साधु बनने की आज्ञा दे दी और राज्य का भार संजयन्त के पुत्र वैजयन्त को देकर स्वयं भी तपस्वी बन गये। साथ ही वे दोनों भाई भी साधु हो गये ॥७॥

तपस्वी बनकर वैजयन्त मुनिराज खूब तपश्चर्या करने लगे, कठिन से कठिन परीषह सहन करके अन्त में ध्यानरूपी अग्नि से घातिया कर्मों का नाश कर उन्होंने लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया। उस समय उनके ज्ञानकल्याणक की पूजा करने को स्वर्ग से देव आये। उनके स्वर्गीय ऐश्वर्य और उनकी दिव्य सुन्दरता को देखकर संजयन्त के छोटे भाई जयन्त ने निदान किया—

सद्रूपं धरणेन्द्रस्य विभूतिं च मनोहराम्। ईदृशं सुतरां रूपं सम्पदा महतीदृशी ॥१०॥
तपोमाहात्म्यतो भूयाच्छीघ्रं मे परजन्मनि। इत्युत्कटनिदानेन धरणेन्द्रश्चाभवत्ततः ॥११॥
सञ्जयन्तमुनिश्चापि पक्षमासोपवासकैः। क्षुत्पिपासादिभिः क्षीणो महाटव्यां सुनिश्चलः ॥१२॥
स सूर्यप्रतिमायोगसंस्थितो गिरिवत्तराम्। तदा तस्योपरिप्राप्तो विद्युद्बुधो खगाधिपः ॥१३॥
आकाशे स्वविमानस्य स्खलनाद्वीक्ष्य तं मुनिम्। ततस्तस्योपसर्गं च चक्रे कोपतो दृढम् ॥१४॥
स मुनिस्तु निजध्यानाच्चलितो नैव धीरधीः। महावायुशतैश्चापि चालितः किं सुराचलः ॥१५॥
ततस्तेनातिकष्टेन मुनिं विद्याप्रभावतः। नीत्वा च भरतक्षेत्रे पूर्वदिग्भागसंस्थिते ॥१६॥
क्षिप्त्वा सिंहवतीमुख्यनदीपञ्चकसङ्गमे। तद्देशवर्तिनश्चापि सर्वलोकाः सुपापिनः ॥१७॥

मैंने जो इतना तपश्चरण किया है, मैं चाहता हूँ कि उसके प्रभाव से मुझे दूसरे जन्म में ऐसी ही सुन्दरता और ऐसी ही विभूति प्राप्त हो। वही हुआ। उसका किया निदान उसे फला। वह आयु के अन्त में मरकर धरणेन्द्र हुआ ॥८-११॥

इधर संजयन्त मुनि पन्द्रह-पन्द्रह दिन के, एक-एक महीना के उपवास करने लगे, भूख-प्यास की कुछ परवाह न कर बड़ी घोरता के साथ परीषह सहने लगे। शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया, तब भी भयंकर वनों में सुमेरु के समान निश्चल रहकर सूर्य की ओर मुँह किये वे तपश्चर्या करने लगे। गर्मी के दिनों में अत्यन्त गर्मी पड़ती, शीत के दिनों में ठंडी खूब सताती, वर्षा के समय मूसलाधार पानी वर्षा करता और आप वृक्षों के नीचे बैठकर ध्यान करते। वन के जीव-जन्तु सताते, पर इन सब कष्टों को कुछ परवाह न कर आप सदा आत्मध्यान में लीन रहते ॥१२-१३॥

एक दिन की बात है संजयन्त मुनिराज तो अपने ध्यान में डूबे हुए थे कि उसी समय एक विद्युद्बुध नाम का विद्याधर आकाश मार्ग से उधर होकर निकला, पर मुनि के प्रभाव से उसका विमान आगे नहीं बढ़ पाया। एकाएक विमान को रुका हुआ देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने नीचे की ओर दृष्टि डालकर देखा तो उसे संजयन्त मुनि दीख पड़े। उन्हें देखते ही उसका आश्चर्य क्रोध के रूप में परिणत हो गया। उसने मुनिराज को अपने विमान को रोकने वाले समझकर उन पर नाना प्रकार के भयंकर उपद्रव करना शुरू किया, उससे जहाँ तक बना उसने उन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया। पर मुनिराज उसके उपद्रवों से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। वे जैसे निश्चल थे वैसे ही खड़े रहे। सच है वायु का कितना ही भयंकर वेग क्यों न चले पर सुमेरु हिलता तक भी नहीं ॥१४-१५॥

इन सब भयंकर उपद्रवों से भी जब उसने मुनिराज को पर्वत जैसा अचल देखा तब उसका क्रोध और भी बहुत बढ़ गया। वह अपने विद्याबल से मुनिराज को वहाँ से उठा ले चला और भारतवर्ष में पूर्व दिशा की ओर बहने वाली सिंहवती नाम की एक बड़ी भारी नदी में, जिसमें कि पाँच बड़ी-बड़ी नदियाँ और मिली थीं, डाल दिया। भाग्य से उस प्रान्त के लोग भी बड़े पापी थे। सो उन्होंने मुनि

आकार्य भणिताः शीघ्रं राक्षसोऽयं महानहो। युष्मान्भक्षयितुं प्राप्तो मत्तैवं मार्यतामिति ॥१८॥
 तदाकर्ण्य मिलित्वा तै लोकेर्लकुटकादिभिः। पाषाणैर्मार्यमाणोपि शत्रुमित्रसमाशयः ॥१९॥
 दुष्टोपसर्गकं जित्वा स मुनिः संजयन्तवाक्। घातिकर्मक्षयं कृत्वा केवलज्ञानमद्भुतम् ॥२०॥
 उत्पाद्य शेषकर्माणि हत्वा मोक्षं गतो द्रुतम्। ततो निर्वाणपूजार्थं जाते देवागमे तराम् ॥२१॥
 यो जयन्तमुनिर्जातो धरणेन्द्रो निदानतः। तेनागतेन तं दृष्ट्वा बन्धुकायं महाकुधा ॥२२॥
 एभिर्मदीयसद्वन्धोरुपसर्गः कृतो महान्। मत्वेति नागपाशेन बद्धा लोकाः सुनिष्ठुरम् ॥२३॥
 ततस्तैर्भणितं लोकैर्न जानीमो वयं प्रभो। एतत्सर्वमहापापं विद्युद्वृष्ट्रेण निर्मितम् ॥२४॥
 तच्छ्रुत्वा नागपाशेन तं बद्ध्वा पापिनं पुनः। सुनिक्षिप्य महाम्भोधौ मारयन्धरणेन्द्रवाक् ॥२५॥

को एक राक्षस समझकर और सर्वसाधारण में यह प्रचार कर, कि यह हमें खाने के लिए आया है, पत्थरों से खूब मारा। मुनिराज ने सब उपद्रव बड़ी शान्ति के साथ सहा। उन्होंने अपने पूर्ण आत्मबल के प्रभाव से हृदय को लेशमात्र भी अधीर नहीं बनने दिया क्योंकि सच्चे साधु वे ही हैं—

तृणं रत्नं वा रिपुरिव परममित्रमथवा
 स्तुतिर्वा निन्दा वा मरणमथवा जीवितमथ।
 सुखं वा दुःखं वा पितृवनमहोत्सौधमथवा
 स्फुटं निर्ग्रन्थानां द्वयमपि समं शान्तमनसाम्॥

जिनके पास रागद्वेष का बढ़ाने वाला परिग्रह नहीं है, जो निर्ग्रन्थ हैं और सदा शान्तचित्त रहते हैं, उन साधुओं के लिए तृण हो या रत्न, शत्रु हो या मित्र, उनकी कोई प्रशंसा करो या बुराई, वे जीवें अथवा मर जायें, उन्हें सुख हो या दुःख और उनके रहने को श्मशान हो या महल, पर उनकी दृष्टि सब पर समान रहेगी। वे किसी से प्रेम या द्वेष न कर सब पर समभाव रखेंगे। यही कारण था कि संजयन्त मुनि ने विद्याधरकृत सब कष्ट समभाव से सहकर अपने अलौकिक धैर्य का परिचय दिया। इस अपूर्व ध्यान के बल से संजयन्त मुनि ने चार घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया और इसके बाद अघातिया कर्मों का भी नाश कर वे मोक्ष चले गये। उनके निर्वाण कल्याणक की पूजन करने को देव आये। वह धरणेन्द्र भी इनके साथ था, जो संजयन्त मुनि का छोटा भाई था और निदान करके धरणेन्द्र हुआ था। धरणेन्द्र को अपने भाई के शरीर की दुर्दशा देखकर बड़ा क्रोध आया। उसने भाई को कष्ट पहुँचाने का कारण वहाँ के नगरवासियों की समझकर उन सबको अपने नागपाश से बाँध लिया और लगा उन्हें वह दुःख देने। नगरवासियों ने हाथ जोड़कर उससे कहा—प्रभो! हम तो इस अपराध से सर्वथा निर्दोष हैं। आप हमें व्यर्थ ही कष्ट दे रहे हो। यह सब कर्म तो पापी विद्युद्वृष्ट्र विद्याधर का है। आप उसे ही पकड़िये न? सुनते ही धरणेन्द्र विद्याधर को पकड़ने के लिए दौड़ा और उसके पास पहुँचकर उसे उसने नागपाश से बाँध लिया। इसके बाद उसे खूब मार पीटकर धरणेन्द्र ने समुद्र में डालना चाहा ॥१६-२५॥

तदा दिवाकराख्येन देवेन भणितो द्रुतम्। किं नागेन्द्र वराकेन मारितेनामुना सुधीः ॥२६॥
 चतुर्भवान्तराण्युच्चैर्वैरं पूर्वं प्रवर्तते। कारणेन पुनस्तेन मुनेश्चोपद्रवः कृतः ॥२७॥
 एतदाकर्ण्य नागेन्द्रः प्राहैवं ब्रूहि कारणम्। ततो दिवाकरेणोक्तं शृणु त्वं भो विचक्षणः ॥२८॥
 जम्बूद्वीपेऽत्र विख्याते भरतक्षेत्रमध्यगे। पुरा सिंहपुरे राजा सिंहसेनोऽभवत्सुधीः ॥२९॥
 रामदत्ता महादेवी साध्वी तस्य विचक्षणा। मंत्री श्रीभूतिनामाभूत्परेषां वचनापरः ॥३०॥
 पद्मखण्डे पुरे श्रेष्ठी सुमित्रो गुणमण्डितः। पुत्रः समुद्रदत्ताख्यो सुमित्राकुक्षिसंभवः ॥३१॥
 वाणिज्येनैकदागत्य तत्र सिंहपुरे महान्। वणिक्समुद्रदत्तोऽसौ सत्यशौचपरायणः ॥३२॥
 श्रीभूतिमंत्रिणः पार्श्वे धृत्वा सद्रत्नपञ्चकम्। गत्वा समुद्रपारं च तस्मादायाति तत्क्षणे ॥३३॥
 पापतः स्फुटिते यान-पात्रे जातोतिनिर्धनः। आगतेन ततस्तेन श्रीभूत्यैयाचितो धनं ॥३४॥

धरणेन्द्र का इस प्रकार निर्दय व्यवहार देखकर एक दिवाकर नाम के दयालु देव ने उससे कहा—
 तुम इसे व्यर्थ ही क्यों कष्ट दे रहे हो? इसकी तो संजयन्त मुनि के साथ कोई चार भव से शत्रुता चली
 आती है। इसी से उसने मुनि पर उपसर्ग किया था। ॥२६-२७॥

धरणेन्द्र बोला—यदि ऐसा है तो उसका कारण मुझे बतलाइये ? ॥२८॥

दिवाकर देव ने तब यों कहना आरंभ किया—

पहले समय में भारतवर्ष में एक सिंहपुर नाम का शहर था। उसके राजा सिंहसेन थे। वे बड़े
 बुद्धिमान् और राजनीति के अच्छे जानकार थे। उनकी रानी का नाम रामदत्ता था। वह बुद्धिमती और
 बड़ी सरल स्वभाव की थी। राजमंत्री का नाम श्रीभूति था। वह बड़ा कुटिल था। दूसरों को धोखा देना,
 उन्हें ठगना यह उसका प्रधान कर्म था। ॥२९-३०॥

एक दिन पद्मखंडपुर के रहने वाले सुमित्र सेठ का पुत्र समुद्रदत्त श्रीभूति के पास आया और
 उससे बोला—“महाशय, मैं व्यापार के लिए विदेश जा रहा हूँ। देवकी विचित्र लीला से न जाने कौन
 समय कैसा आवे ? इसलिए मेरे पास ये पाँच रत्न हैं, इन्हें आप अपनी सुरक्षा में रखें तो अच्छा होगा
 और मुझपर भी आपकी बड़ी दया होगी। मैं पीछा आकर अपने रत्न ले लूँगा।” यह कहकर और
 श्रीभूति को रत्न सौंपकर समुद्रदत्त चल दिया ॥३१-३३॥

कई वर्ष बाद समुद्रदत्त पीछे लौटा। वह बहुत धन कमाकर लाया था। जाते समय जैसा उसने
 सोचा था, दैव की प्रतिकूलता से वही घटना उसके भाग्य में घटी। किनारे लगते-लगते जहाज फट
 पड़ा। सब माल असबाब समुद्र के विशाल उदर में समा गया। पुण्योदय से समुद्रदत्त को कुछ ऐसा
 सहारा मिल गया, जिससे उसकी जान बच गई। वह कुशलपूर्वक अपना जीवन लेकर घर लौट
 आया ॥३४॥

देहि मे पञ्च रत्नानि सत्यघोष दयापरः। तेन श्रीभूतिना प्रोक्तं लोकानामग्रतस्तदा ॥३५॥
 किं भो पुरा मया प्रोक्तं तत्सत्यं समभूद्वचः। मन्येऽहं धननाशेन समागच्छति कोप्ययम् ॥३६॥
 निर्धनो गृहिलो भूत्वा कस्यापि महतस्तराम्। करिष्यति वृथा मूढो गले वल्गनकं ध्रुवम् ॥३७॥
 कस्मात्समागतान्यस्य सद्रत्नानि महीतले। केन वा लोकितानीति किं न कुर्वन्ति पापिनः ॥३८॥
 ततः समुद्रदत्तोपि मदीयं रत्नपञ्चकम्। श्रीभूतिर्न ददात्येवं सर्वस्मिन्नगरे सुधीः ॥३९॥
 कृत्वा पूत्कारकं नित्यं राजवेशमसमीपतः। पश्चात्पश्चिमरात्रौ च पूत्कारं प्रकरोत्यसौ ॥४०॥
 षण्मासेषु गतेष्वेवं राज्ञ्या राज्ञे निवेदितम्। देवायं गृहिलो न स्यादेकवाक्यप्रजल्पनात् ॥४१॥

दूसरे दिन वह श्रीभूति के पास गया और अपने पर जैसी विपत्ति आई थी उसे उसने आदि से अन्त तक कहकर श्रीभूति से अपने अमानत रखे हुए रत्न पीछे मांगे। श्रीभूति ने आँखें चढ़ाकर कहा—कैसे रत्न तू मुझसे माँगता है? जान पड़ता है जहाज डूब जाने से तेरा मस्तक बिगड़ गया है। श्रीभूति ने बेचारे समुद्रदत्त को मनमानी फटकार बताकर और अपने पास बैठे हुए लोगों से कहा—देखिये न साहब, मैंने आपसे अभी ही कहा था न ? कि कोई निर्धन मनुष्य पागल बनकर मेरे पास आवेगा और झूठा ही बखेड़ाकर झगड़ा करेगा। वही सत्य निकला। कहिये तो ऐसे दरिद्री के पास रत्न आ कहाँ से सकते हैं? भला, किसी ने भी इसके पास कभी रत्न देखे हैं। यों ही व्यर्थ गले पड़ता है। ऐसा कहकर उसने नौकरों द्वारा समुद्रदत्त को निकलवा दिया। बेचारा समुद्रदत्त एक तो वैसे ही विपत्ति का मारा हुआ था; इसके सिवा उसे जो एक बड़ी भारी आशा थी, उसे भी पापी श्रीभूति ने नष्ट कर दिया। वह सब ओर से अनाथ हो गया। निराशा के अथाह समुद्र में गोते खाने लगा। पहले उसे अच्छा होने पर भी श्रीभूति ने पागल बना डाला था; पर अब वह सचमुच ही पागल हो गया। वह शहर में घूम-घूमकर चिल्लाने लगा कि पापी श्रीभूति ने मेरे पाँच रत्न ले लिए और अब वह उन्हें देता नहीं है। राजमहल के पास भी उसने बहुत पुकार मचाई, पर उसकी कहीं सुनाई नहीं हुई। सब उसे पागल समझकर दुतकार देते थे। अन्त में निरुपाय हो उसने एक वृक्ष पर चढ़कर, जो कि रानी के महल के पीछे ही था, पिछली रात को बड़े जोर से चिल्लाना आरंभ किया। रानी ने बहुत दिनों तक तो उस पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। उसने भी समझ लिया कि कोई पागल चिल्लाता होगा। पर एक दिन उसे ख्याल हुआ कि वह पागल होता तो प्रतिदिन इसी समय आकर क्यों चिल्लाता ? सारे दिन ही इसी तरह आकर क्यों न चिल्लाता फिरता ? इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। यह विचार कर उसने एक दिन राजा से कहा—प्राणनाथ! आप इस चिल्लाने वाले को पागल बताते हैं, पर मेरी समझ में यह बात नहीं आती क्योंकि यदि वह पागल होता तो न तो बराबर इसी समय चिल्लाता और न सदा एक ही वाक्य बोलता। इसलिए इसका ठीक-ठीक पता लगाना चाहिए कि बात क्या है? ऐसा न हो कि अन्याय से बेचारा एक गरीब बिना मौत मारा जाय। रानी के कहने के अनुसार राजा ने समुद्रदत्त को बुलाकर सब बातें पूछीं। समुद्रदत्त ने जैसी अपने पर बीती थी, वह ज्यों को त्यों महाराज से कह सुनाई। तब रत्न कैसे

एकान्ते च ततो राज्ञा सम्पृष्टो गृहिलो जगौ। पूर्ववृत्तान्तकं सर्वं रत्नानां सत्यमेव च ॥४२॥
ततः परस्परं द्यूते पृष्ठा तं रामदत्तया। श्रीभूतिं भोजनं पश्चात्साभिज्ञानेन तेन च ॥४३॥

प्राप्त किये जाँय, इसके लिए राजा को चिन्ता हुई। रानी बड़ी बुद्धिमती थी इसलिए रत्नों के मंगा लेने का भार उसने अपने पर लिया ॥३५-४२॥

रानी ने एक दिन श्रीभूति को बुलाया और उससे कहा—मैं आपकी शतरंज खेलने में बड़ी तारीफ सुना करती हूँ। मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि मैं एक दिन आपके साथ खेलूँ। आज बड़ा अच्छा सुयोग मिला जो आप यहीं पर उपस्थित हैं। यह कहकर उसने दासों को शतरंज ले आने की आज्ञा दी ॥ ४३॥

श्रीभूति रानी की बात सुनते ही घबरा गया। उसके मुँह से एक शब्द तक निकलना मुश्किल पड़ गया। उसने बड़ी घबराहट के साथ काँपते-काँपते कहा—महारानीजी, आज आप यह क्या कह रही हैं। मैं एक क्षुद्र कर्मचारी और आपके साथ खेलूँ? यह मुझसे न होगा। भला, राजा साहब सुन पावें तो मेरा क्या हाल हो?

रानी ने कुछ मुस्कराते हुए कहा—वाह, आप तो बड़े ही डरते हैं। आप घबराइये मत। मैंने खुद राजा साहब से पूछ लिया है और फिर आप तो हमारे बुजुर्ग हैं। इसमें डर की बात ही क्या है। मैं तो केवल विनोदवश होकर खेल रही हूँ।

“राजा की मैंने स्वयं आज्ञा ले ली” जब रानी के मुँह से यह वाक्य सुना तब श्रीभूति के जी में जी आया और वह रानी के साथ खेलने के लिए तैयार हुआ।

दोनों का खेल आरम्भ हुआ। पाठक जानते हैं कि रानी के लिए खेल का तो केवल बहाना था। असल में तो उसे अपना मतलब गाँठना था इसीलिए उसने यह चाल चली थी। रानी खेलते-खेलते श्रीभूति की अपनी बातों में लुभाकर उसके घर की सब बातें जान ली और इशारे से अपनी दासी को कुछ बातें बतलाकर उसे श्रीभूति के यहाँ भेजा। दासी ने जाकर श्रीभूति की पत्नी से कहा—तुम्हारे पति बड़े कष्ट में फँसे हैं, इसलिए तुम्हारे पास उन्होंने जो पाँच रत्न रखे हैं, उनके लेने को मुझे भेजा है। कृपा करके वे रत्न जल्दी दे दो जिससे उनका छुटकारा हो जाये।

श्रीभूति की स्त्री ने उसे फटकार दिखला कर कहा चल, मेरे पास रत्न नहीं हैं और न मुझे कुछ मालूम है। जाकर उन्हीं से कह दे कि जहाँ रत्न रखे हों, वहाँ से तुम्हीं जाकर ले आओ।

दासी ने पीछे लौट आकर सब हाल अपनी मालकिन से कह दिया। रानी ने अपनी चाल का कुछ उपयोग नहीं हुआ देखकर दूसरी युक्ति निकाली। अबकी बार वह हारजीत का खेल खेलने लगी। मंत्री ने पहले तो कुछ आनाकानी की, पर फिर “रानी के पास धन का तो कुछ पार नहीं है और मेरी जीत होगी तो मैं मालामाल हो जाऊँगा” यह सोचकर वह खेलने को तैयार हो गया।

रत्नार्थं प्रेषिता दासी पार्श्वं श्रीभूतिकस्त्रियः । न दत्तानि तया पश्चाज्जित्वा तन्मुद्रिकां शुभाम् ॥४४॥
 प्रेषिता सा पुनर्नैव तया दत्तानि तानि च । जित्वा च प्रेषिते यज्ञोपवीते भीतया तया ॥४५॥
 शीघ्रं रत्नानि दत्तानि तान्यादाय तया पुनः । भूपतेर्दर्शितान्युच्चैस्ततस्तेन महीभुजा ॥४६॥
 स्वकीयसाररत्नानां मध्ये निक्षिप्य तानि च । धृत्वा समुद्रदत्ताग्रे युष्माकं त्वं गृहाण भो ॥४७॥
 इत्युक्ते तेन रत्नानि गृहीतानि निजानि वै । न विस्मृतिः सतां क्वापि काले दीर्घतरे गते ॥४८॥
 तदा कोपेन तेनोक्तं भूभुजा स्वाधिकारिणाम् । अस्य किं क्रियते ब्रूत महाचोरस्य पापिनः ॥४९॥

रानी बड़ी चतुर थी। उसने पहले ही पासे में श्रीभूति की एक कीमती अंगूठी जीत ली। उस अंगूठी को चुपके से दासी के हाथ देकर और कुछ समझाकर उसने श्रीभूति के घर फिर भेजा और आप उसके साथ खेलने लगी ॥४४॥

अबकी बार रानी का प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया। दासी ने पहुँचते ही बड़ी घबराहट के साथ कहा— देखो, पहले तुमने रत्न नहीं दिये, उससे उन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ा। अब उन्होंने यह अंगूठी देकर मुझे भेजा है और यह कहलाया है कि यदि तुम्हें मेरी जान प्यारी हो, तो इस अंगूठी को देखते ही रत्नों को दे देना और रत्न प्यारे हों तो न देना। इससे अधिक में और कुछ नहीं कहता ॥४५॥

अब तो वह एक साथ घबरा गई। उसने उससे कुछ विशेष पूछताछ न करके केवल अंगूठी के भरोसे पर रत्न निकालकर दासी के हाथ सौंप दिये। दासी ने रत्नों को लाकर रानी को दे दिये और रानी ने उन्हें महाराज के पास पहुँचा दिये।

राजा को रत्न देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने रानी की बुद्धिमानी को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया। इसके बाद उन्होंने समुद्रदत्त को बुलाया और उन रत्नों को और बहुत से रत्नों में मिलाकर उससे कहा—देखो, इन रत्नों में तुम्हारे रत्न हैं क्या? और हों तो उन्हें निकाल लो। समुद्रदत्त ने अपने रत्नों को पहचान कर निकाल लिया। सच है बहुत समय बीत जाने पर भी अपनी वस्तु को कोई नहीं भूलता ॥४६-४७॥

इसके बाद राजा ने श्रीभूति को राजसभा में बुलाया और रत्नों को उसके सामने रखकर कहा— कहिये आप तो इस बेचारे के रत्नों को हड़पकर भी उल्टा इसे ही पागल बनाते थे न? यदि महारानी मुझसे आग्रह न करती और अपनी बुद्धिमानी से इन रत्नों को प्राप्त नहीं करती, तब यह बेचारा गरीब तो व्यर्थ मारा जाता और मेरे सिर पर कलंक का टीका लगता। क्या इतने उच्च अधिकारी बनकर मेरी प्रजा का इसी तरह तुमने सर्वस्व हरण किया है? ॥४८॥

राजा को बड़ा क्रोध आया। उसने अपने राज्य के कर्मचारियों से पूछा—कहो, इस महापापी को इसके पाप का क्या प्रायश्चित्त दिया जाय, जिससे आगे के लिए सब सावधान हो जायें और इस दुरात्मा का जैसा भयंकर कर्म है, उसी के उपयुक्त इसे उसका प्रायश्चित्त भी मिल जाय? राज्य कर्मचारियों ने

ततोधिकारिभिः प्रोक्तं राजन्नीदृग्विधायिनः। भक्षणं गोमयस्योच्चैर्द्वात्रिंशन्मल्लमुष्टयः ॥५०॥
 सर्वस्वहरणं दण्डः क्रियते वास्य निश्चयात्। श्रीभूतिस्तु महालोभी क्रमाद्वण्डत्रयं कुधीः ॥५१॥
 स्वीकृत्यैव महाकष्टमार्त्तध्यानेन पीडितः। मृत्वा तस्य नृपस्याभूद्भाण्डागारे भुजङ्गमः ॥५२॥
 सुधीः समुद्रदत्तस्तु धर्माचार्यमहामुनेः। धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं गृहीत्वा सुतपस्ततः ॥५३॥
 मृत्वा कालेन तस्यैव सिंहसेनमहीपतेः। सिंहचन्द्राभिधो धीमान्पुत्रो जातोतिनिर्मलः ॥५४॥
 एकदा सिंहसेनोसौ भाण्डागारे नृपो गतः। श्रीभूतिचरसर्पेण भक्षितो मरणं श्रितः ॥५५॥
 शल्लकीवनमध्ये च हस्ती जातो महान् ध्रुवम्। नृपो मृत्वा गजो तत्र दुस्सहः कर्मसञ्चयः ॥५६॥
 राज्ञो मरणमालोक्य महाकोपेन मन्त्रतः। सुघोषमन्त्रिणाहूय सर्वान्सर्पान्प्रजल्पितम् ॥५७॥

विचार कर और सबकी सम्मति मिलाकर कहा—महाराज, जैसा इन महाशय का नीच कर्म है, उसके योग्य हम तीन दण्ड उपयुक्त समझते हैं और उनमें से जो इन्हें पसन्द हो, वही ये स्वीकार करें। १. एक सेर पक्का गोमय खिलाया जाये; २. मल्ल के द्वारा बत्तीस घूँसे लगवाये जाये; या ३. सर्वस्व हरण पूर्वक देश निकाला दे दिया जाये ॥४९-५०॥

राजा ने अधिकारियों के कहे माफिक दण्ड की योजना कर श्रीभूति से कहा कि—तुम्हें जो दण्ड पसन्द हो, उसे बतलाओ। पहले श्रीभूत ने गोमय खाना स्वीकार किया, पर उसका उससे एक ग्रास भी नहीं खाया गया। तब उसने मल्ल के घूँसे खाना स्वीकार किया। मल्ल बुलवाया गया। घूँसे लगना आरम्भ हुआ। कुछ घूँसों की मार पड़ी होगी कि उसका आत्मा शरीर छोड़कर चल बसा। उसकी मृत्यु बड़े आर्तध्यान से हुई। वह मरकर राजा के खजाने पर ही एक विकराल सर्प हुआ ॥५१-५२॥

इधर समुद्रदत्त को इस घटना से बड़ा वैराग्य हुआ। उसने संसार की दशा देखकर उसमें अपने को फँसाना उचित नहीं समझा। वह उसी समय अपना सब धन परोपकार के कामों में लगाकर वन की ओर चल दिया और धर्माचार्य नाम के महामुनि से पवित्र धर्म का उपदेश सुनकर साधु बन गया। बहुत दिनों तक उसने तपश्चर्या की। इसके बाद आयु के अन्त में मृत्यु प्राप्त कर वह इन्हीं सिंहसेन राजा के सिंहचन्द्र नामक पुत्र हुआ ॥५३-५४॥

एक दिन राजा अपने खजाने को देखने के लिए गये थे, उन्हें देखकर श्रीभूति के जीव को, जो कि खजाने पर सर्प हुआ था, बड़ा क्रोध आया। क्रोध के वश ही उसने महाराज को काट खाया। महाराज आर्तध्यान से मरकर शल्लकी नामक वन में हाथी हुए। राजा की सर्प द्वारा मृत्यु देखकर सुघोष मंत्री को बड़ा क्रोध आया। उसने अपने मन्त्र बल से बहुत से सर्पों को बुलाकर कहा—यदि तुम निर्दोष हो, तो इस अग्निकुण्ड में प्रवेश करते हुए अपने-अपने स्थान पर चले जाओ। तुम्हें ऐसा करने से कुछ भी कष्ट न होगा। जितने बाहर के सर्प आये थे, वे सब तो चले गये। अब श्रीभूति का जीव बाकी रह गया। उससे कहा गया कि या तो तू विष खींचकर महाराज को छोड़ दे या इस अग्निकुण्ड में प्रवेश

भो नागा ये तु निर्दोषाः प्रवेशं वह्निकुण्डके । कृत्वा स्वस्थानके यान्तु तं कृत्वा ते च निर्गताः ॥५८॥
 श्रीभूतिचरसर्पे च संस्थिते मन्त्रिणोदितम् । विषं मुञ्चाग्निकुण्डे वा कुरु त्वं रे प्रवेशनम् ॥५९॥
 अगन्धनकुलोद्भूतो नाहं मुञ्चामि तद्विषम् । इति क्रूराशयः सोऽपि कृत्वा वह्निप्रवेशनम् ॥६०॥
 मृत्वा कुर्कुटसर्पोऽभूत्पापी तत्सल्लकीवने । पापिनां पुनरावर्तो भवत्येवं कुयोनिषु ॥६१॥
 रामदत्ता तदा राज्ञी पत्युर्मरणदुःखिता । कनश्चर्यार्थिकापाश्वर्णे तपो धृत्वा सुखं स्थिता ॥६२॥
 सिंहचन्द्रोऽपि तातस्य मरणेन विरक्तधीः । स्वभ्रात्रे पूर्णचन्द्राय राज्यं दत्त्वा कनीयसे ॥६३॥
 सुव्रताख्यमुनेः पाश्वर्णे जैनीं दीक्षां गृहीतवान् । संजातः सुतपोयोगैर्मनःपर्ययबोधवान् ॥६४॥
 एकदा तं मुनिं दृष्ट्वा चतुर्थज्ञानसंयुतम् । रामदत्तार्थिका प्राह भक्त्या नत्वा तपोनिधिम् ॥६५॥
 स्वामिन् धन्योऽत्र मे कुक्षिर्धृतो येन भवान् भृशम् । पूर्णचन्द्रस्तु ते भ्राता कदा धर्मं गृहीष्यति ॥६६॥
 तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह सिंहचन्द्रो गुणोज्ज्वलः । मातस्त्वं पश्य संसारवैचित्र्यं वच्मि तेऽधुना ॥६७॥

कर । पर वह महाक्रोधी था उसने अग्निकुण्ड में प्रवेश करना अच्छा समझा, पर विष खींच लेना उचित नहीं समझा । वह क्रोध के वश हो अग्नि में प्रवेश कर गया । प्रवेश करते ही वह देखते-देखते जलकर खाक हो गया । जिस सल्लकी वन में महाराज का जीव हाथी हुआ था, वह सर्प भी मरकर उसी वन में मुर्गा हुआ । सच है पापियों का कुयोनियों में उत्पन्न होना, कोई आश्चर्य की बात नहीं है । इधर तो ये सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार दूसरे भवों में उत्पन्न हुए और उधर सिंहसेन की रानी पति-वियोग से बहुत दुःखी हुई । उसे संसार की क्षणभंगुर लीला देखकर वैराग्य हुआ । वह उसी समय संसार का मायाजाल तोड़ताड़ कर वनश्री आर्थिका के पास साध्वी बन गई । सिंहसेन का पुत्र सिंहचन्द्र भी वैराग्य के वश हो, अपने छोटे भाई पूर्णचन्द्र की राज्यभार सौंपकर सुव्रत नामक मुनिराज के पास दीक्षित हो गया । साधु होकर सिंहचन्द्र मुनि ने खूब तपश्चर्या की, शान्ति और धीरता के साथ परीषहों पर विजय प्राप्त किया, इन्द्रियों को वश किया और चंचल मन को दूसरी ओर से रोककर ध्यान की ओर लगाया । अन्त में ध्यान के बल से उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हुआ । उन्हें मनःपर्ययज्ञान से युक्त देखकर उनकी माता ने, जो कि इन्हीं के पहले आर्थिका हुई थी, नमस्कार कर पूछा-साधुराज ! मेरी कोख धन्य है, वह आज कृतार्थ हुई, जिसने आपसे पुरुषोत्तम को धारण किया । पर अब यह तो कहिये कि आपके छोटे भाई पूर्णचन्द्र आत्महित के लिए कब उद्यत होंगे ? ॥५५-६६॥

उत्तर में सिंहचंद्र मुनि बोले-“माता, सुनो तो मैं तुम्हें संसार की विचित्र लीला सुनाता हूँ, जिसे सुनकर तुम भी आश्चर्य करोगी । तुम जानती हो कि पिताजी को सर्प ने काटा था और उसी से उनकी मृत्यु हो गई थी । वे मरकर सल्लकी वन में हाथी हुए । वे ही पिता एक दिन मुझे मारने के लिए मेरे पर झपटे, तब मैंने उस हाथी को समझाया और कहा-गजेन्द्रराज ! जानते हो, तुम पूर्व जन्म में राजा सिंहसेन थे और मैं प्राणों से भी प्यारा सिंहचन्द्र नाम का तुम्हारा पुत्र था । कैसा आश्चर्य है कि आज

सिंहसेनो महाराजो दष्टः सर्पेण पापिना। स मृत्वा सल्लकीनामवने हस्ती बभूव च ॥६८॥
 स मां वीक्ष्यैकदा धावन्मारणार्थं मया ततः। भणितो भो करीन्द्र त्वं सिंहसेनो नृपः पुरा ॥६९॥
 पुत्रोऽहं सिंहचन्द्रस्ते प्राणेभ्यश्चातिवल्लभः। इदानीन्तु समायातो मारणार्थं कथं विधिः ॥७०॥
 इत्युक्ते स गजेन्द्रोपि भूत्वा जातिस्मरो महान्। अश्रुपातं तरां कुर्वन्नत्वा मे पादयोः स्थितः ॥७१॥
 मया पुनस्ततस्तस्य कारयित्वा जिनेशिनः। सद्धर्मश्रवणं सारसम्यक्त्वाणुव्रतानि च ॥७२॥
 ग्राहितानि गतः सोपि तान्युच्चैः प्रतिपालयन्। गृह्णन्नाहारतोयादिसमस्तं प्रासुकं पुनः ॥७३॥
 क्षीणकायो नदीतीरे निर्मग्नः कर्दमे तदा। श्रीभूतिचरसर्पेण कुर्कुटाख्येन मस्तके ॥७४॥
 स्थित्वा संखाद्यमानस्तु कृत्वा संन्यासमुत्तमम्। स्मरन्पञ्चनमस्कारान्सर्वपापक्षयङ्करान् ॥७५॥
 मृत्वा स्वर्गे सहस्रारे देवोऽभूच्छ्रीधराह्वयः। नाना सत्सम्पदोपेतः किमन्यद्धर्मतः शुभम् ॥७६॥
 सर्पः सोपि महापापी मृत्वा कष्टशतप्रदे। चतुर्थे नरके घोरे पतितः पापकर्मणा ॥७७॥
 हस्तिनस्तस्य सद्गन्तौ तदा मुक्ताफलानि च। वनराजेन भिल्लेन गृहीत्वा तानि तेन च ॥७८॥
 दत्तानि धनमित्राख्यसार्थवाहस्य तेन तु। पूर्णचन्द्रमहीभर्तुरर्पितानि सुभक्तितः ॥७९॥

पिता ही पुत्र को मारना चाहता है। मेरे इन शब्दों को सुनते ही गजेन्द्र को जातिस्मरण हो आया, पूर्व जन्म की उसे स्मृति हो गई। वह रोने लगा, उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। वह मेरे सामने चित्र लिखा सा खड़ा रह गया। उसकी यह अवस्था देखकर मैंने उसे जिनधर्म का उपदेश दिया और पंचाणुव्रत का स्वरूप समझाकर उसे अणुव्रत ग्रहण करने को कहा। उसने अणुव्रत ग्रहण किये और पश्चात् वह प्रासुक भोजन और प्रासुक जल से अपना निर्वाह कर व्रत का दृढ़ता के साथ पालन करने लगा। एक दिन वह जल पीने के लिए नदी पर पहुँचा। जल के भीतर प्रवेश करते समय वह कीचड़ में फँस गया। उसने निकलने की बहुत चेष्टा की, पर वह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। अपना निकलना असंभव समझकर उसने समाधिमरण की प्रतिज्ञा ले ली। उस समय वह श्रीभूति का जीव, जो मुर्गा हुआ था, हाथी के सिर पर बैठकर उसका मांस खाने लगा। हाथी पर बड़ा उपसर्ग आया, पर उसने उसकी कुछ परवाह न कर बड़ी धीरता के साथ पंचनमस्कार मंत्र की आराधना करना शुरू कर दिया, जो कि सब पापों का नाश करने वाला है। आयु के अन्त में शान्ति के साथ मृत्यु प्राप्त कर वह सहस्रार स्वर्ग में देव हुआ। सच है धर्म के सिवा और कल्याण का कारण हो ही क्या सकता है ? ॥६७-७६॥

वह सर्प भी बहुत कष्टों को सहन कर मरा और तीव्र पापकर्म के उदय से चौथे नरक में जाकर उत्पन्न हुआ, जहाँ अनन्त दुःख हैं और जब तक आयु पूर्ण नहीं होती तब तक पलक गिराने मात्र भी सुख प्राप्त नहीं होता ॥७७॥

सिंहसेन का जीव जो हाथी मरा था, उसके दाँत और कपोलों में से निकले हुए मोती, एक भील के हाथ लगे। भील ने उन्हें एक धनमित्र नामक साहूकार के हाथ बेच दिये और धनमित्र ने उन्हें सर्वश्रेष्ठ और कीमती समझकर राजा पूर्णचंद्र को भेंट कर दिये। राजा देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उनके बदले में धनमित्र को खूब धन दिया। इसके बाद राजा ने दाँतों के तो अपने पलंग के पाये बनवाये

पूर्णचन्द्रेण दन्ताभ्यां स्वपल्यङ्गस्य कारिताः। पादा मुक्ताफलैर्हारी राज्ञीकण्ठे च कारितः ॥८०॥
 एवं संसारवैचित्र्यं पूर्णचन्द्रस्य कथ्यते। गत्वा मातस्त्वया सोपि जैनं धर्मं गृहीष्यति ॥८१॥
 ततो नत्वा मुनिं सापि गता भूपस्य मन्दिरम्। तां दृष्ट्वा पूर्णचन्द्रश्चोत्थाय पल्यङ्गतो द्रुतम् ॥८२॥
 प्रणम्य मातरं यावत्संस्थितो विनयानतः। सा जगौ पुत्र ते तातो दष्टः सर्पेण पापिना ॥८३॥
 स मृत्वात्र गजेन्द्रोभूत्सल्लकीकानने सुधीः। सर्पो मृत्वा पुनः सोपि कुर्कुटाख्योहिकोऽभवत् ॥८४॥
 निर्मग्नः कर्दमे हस्ती तेन सर्पेण भक्षितः। तद्वन्तौ हस्तिनस्तस्य मुक्ताफलकदम्बकम् ॥८५॥
 अपर्यामास ते राजन्सार्थवाहः सुभक्तितः। एते पल्यङ्गपादास्ते तद्वन्ताभ्यां विनिर्मिताः ॥८६॥
 हारोयं शोभते राज्ञीकण्ठे ते भूपतेस्तराम्। ज्ञेयो मुक्ताफलैस्तस्य हस्तिनस्तु विनिर्मितः ॥८७॥
 इत्यादिसर्वसंबन्धं स श्रुत्वा भूपतिस्तराम्। महाशोकेन सन्तप्तो गिरिर्दावानलेन वा ॥८८॥
 ततः पल्यङ्गपादांस्तान्समालिङ्ग्य प्रमोहतः। हा तातेति च पूत्कारं पूर्णचन्द्रश्चकार सः ॥८९॥

और मोतियों का रानी के लिए हार बनवा दिया। इस समय वे विषय सुख में खूब मग्न होकर अपना काल बिता रहे हैं। यह संसार की विचित्र दशा है। क्षण-क्षण में क्या होता है सो सिवा ज्ञानी के कोई नहीं जान पाता और इसी से जीवों को संसार के दुःख भोगना पड़ते हैं। माता, पूर्णचन्द्र के कल्याण का एक मार्ग है, यदि तुम जाकर उपदेश दो और यह सब घटना उसे सुनाओ तो वह अवश्य अपने कल्याण की ओर दृष्टि देगा ॥७८-८१॥

सुनते ही वह उठी और पूर्णचन्द्र के महल पहुँची। अपनी माता को देखते ही पूर्णचन्द्र उठे और बड़े विनय से उसका सत्कार कर उन्होंने उसके लिए पवित्र आसन दिया और हाथ जोड़कर वे बोले—
 “माताजी, आपने अपने पवित्र चरणों से इस समय भी इस घर को पवित्र किया, उससे मुझे जो प्रसन्नता हुई वह वचनों द्वारा नहीं कही जा सकती। मैं अपने जीवन को सफल समझूँगा यदि मुझे आप अपनी आज्ञा का पात्र बनावेंगी। वह बोली—मुझे एक आवश्यक बात की ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित करना है। इसीलिए मैं यहाँ आई हूँ और वह बड़ी विलक्षण बात है, सुनते हो न ? इसके बाद आर्यिका ने यों कहना आरंभ किया— ॥८२-८३॥

“पुत्र, जानते हो, तुम्हारे पिता को सर्प ने काटा था, उसकी वेदना से मरकर वे सल्लकी वन में हाथी हुए और वह सर्प मरकर उसी वन में मुर्गा हुआ। एक दिन हाथी जल पीने गया। वह नदी के किनारे पर खूब गहरे कीचड़ में फँस गया। वह उसमें से किसी तरह निकल नहीं सका। अन्त में निरुपाय होकर वह मर गया। उसके दाँत और मोती एक भील के हाथ लगे। भील ने उन्हें एक सेठ के हाथ बेच दिये। सेठ के द्वारा वे ही दाँत और मोती तुम्हारे पास आये। तुमने दाँतों के तो पलंग के पाये बनवाये और मोतियों का अपनी पत्नी के लिए हार बनवाया। यह संसार की विचित्र लीला है। इसके बाद तुम्हें उचित जान पड़े सो करो”। आर्यिका इतना कहकर चुप हो रही। पूर्णचन्द्र अपने पिता की कथा सुनकर एक साथ रो पड़ा। उनका हृदय पिता के शोक से सन्तप्त हो उठा। जैसे दावाग्नि से

अन्तःपुरेण तेनोच्चैः सुजनैश्च तथा जनैः। कृत्वा संरोदनं पश्चाच्चन्दनाक्षतपुष्पकैः ॥९०॥
 दन्तमुक्ताफलानां च पूजां कृत्वा ततः परम्। संस्कारस्तु कृतो लोके किन्न कुर्वन्ति मोहिनः ॥९१॥
 पूर्णचन्द्रस्ततो धीमान्प्रतिपाल्य जिनोदितम्। सारं श्रावकसद्धर्मं महाशुक्रे सुरोजनि ॥९२॥
 रामदत्ता तपस्तप्त्वा देवस्तत्रैव चाभवत्। के के नैव गता लोके कालेन कवलीकृताः ॥९३॥
 चतुर्थज्ञानधारी च सिंहचन्द्रो मुनीश्वरः। शुद्धचारित्र्ययोगेन प्रान्तं ग्रैवेयकं गतः ॥९४॥
 अथ जम्बूमति द्वीपे भरतस्थे खगाचले। श्रीसूर्याभपुरे राजा सुरावर्तो विचक्षणः ॥९५॥
 यशोधरा महाराज्ञी रूपलावण्यमण्डिता। दानपूजालसच्छीलप्रोषधैः प्रविराजिता ॥९६॥
 सिंहसेनचरो योऽसौ गजो मृत्वा दिवं गतः। तद्गर्भे हि समागत्य रश्मिवेगः सुतोभवत् ॥९७॥
 ततः कैश्चिद्विनैस्तस्मै रश्मिवेगाय धीमते। दत्त्वा राज्यं सुरावर्तो राजा जातो मुनीश्वरः ॥९८॥
 अथैकदा महाराजो रश्मिवेगः सुधार्मिकः। सिद्धकूटजिनागारे वन्दनार्थं गतो मुदा ॥९९॥

पर्वत सन्तप्त हो उठता है। उनके रोने के साथ ही सारे अन्तःपुर में हाहाकार मच गया। उन्होंने पितृप्रेम के वश हो उन पलंग के पायों को छाती से लगाया। इसके बाद उन्होंने पलंग के पायों और मोतियों को चन्दनादि से पूजा कर उन्हें जला दिया। ठीक है मोह के वश होकर यह जीव क्या नहीं करता? ॥८४-९१॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मोह का चक्र जब अच्छे-अच्छे महात्माओं पर भी चल जाता है, तब पूर्णचन्द्र पर उसका प्रभाव पड़ना कोई आश्चर्य का कारण नहीं है। पर पूर्णचन्द्र बुद्धिमान् थे, उन्होंने झटसे अपने को सम्हाल लिया और पवित्र श्रावक धर्म को ग्रहण कर बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ उनका वे पालन करने लगे। फिर आयु के अन्त में वे पवित्र भावों से मृत्यु लाभकर महाशुक्र नामक स्वर्ग में देव हुए। उनकी माता भी अपनी शक्ति के अनुसार तपश्चर्या कर उसी स्वर्ग में देव हुई। सच है संसार में जन्म लेकर कौन-कौन काल के ग्रास नहीं बने? मनःपर्ययज्ञान के धारक सिंहचन्द्र मुनि भी तपश्चर्या और निर्मल चारित्र के प्रभाव से मृत्यु प्राप्त कर ग्रैवेयक में जाकर देव हुए ॥९२-९४॥

भारतवर्ष के अन्तर्गत सूर्याभपुर नामक एक शहर है। उसके राजा का नाम सुरावर्त है। वे बड़े बुद्धिमान् और तेजस्वी हैं। उनकी महारानी का नाम था यशोधरा। वह बड़ी सुन्दरी थी, बुद्धिमती थी, सती थी, सरल स्वभाव वाली थी और विदुषी थी। वह सदा दान देती, जिन भगवान् की पूजा करती और बड़ी श्रद्धा के साथ उपवासादि करती ॥९५-९६॥

सिंहसेन राजा का जीव, जो हाथी की पर्याय से मरकर स्वर्ग गया था, यशोधरा रानी का पुत्र हुआ। उसका नाम था रश्मिवेग। कुछ दिनों बाद महाराज सुरावर्त तो राज्यभार रश्मिवेग के लिए सौंपकर साधु बन गये और राज्यकार्य रश्मिवेग चलाने लगा ॥९७-९८॥

एक दिन की बात है कि धर्मात्मा रश्मिवेग सिद्धकूट जिनालय की वन्दना के लिए गया। वहाँ

तत्र श्रीहरिचन्द्राख्यं मुनिं दृष्ट्वा जगद्धितम्। धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं तदन्ते सत्तपोऽगृहीत् ॥१००॥
 एकदा स तपःक्षीणो रश्मिवेगो महामुनिः। स्थितो वने गुहामध्ये कायोत्सर्गेण शुद्धधीः ॥१०१॥
 तदायं कुर्कुटः सर्पश्चतुर्थं नरकं गतः। स जातोऽजगरो नाम पापी सर्पस्तु तद्वने ॥१०२॥
 तं पूत्कारं प्रकुर्वन्तं दहन्तं काननं महत्। गुहाभिमुखमागच्छन्तं विलोक्य महाशयुम् ॥१०३॥
 सुधीः संन्यासमादाय संस्थितो मुनिसत्तमः। भक्षितस्तेन दुष्टेन पापिनाजगरेण सः ॥१०४॥
 मृत्वा कापिष्ठकल्पेऽसौ देवो जातो महर्द्धिकः। आदित्यप्रभनामा श्री-जिनपादाब्जयो रतः ॥१०५॥
 मृत्वासोऽजगरो नागश्चतुर्थं नरकं गतः। छेदनैर्भेदनैः शूलारोहणाद्यैः कदर्थितः ॥१०६॥
 ततः कापिष्ठकल्पाच्च सिंहसेनचरः सुरः। च्युत्वा चक्रपुरे रम्ये चक्रायुधमहीपतिः ॥१०७॥
 चित्रमाला महादेवी तयोः पूर्वस्वपुण्यतः। वज्रायुधो सुतो जातो जैनधर्मधुरन्धरः ॥१०८॥
 तस्मै राज्यं समर्प्योच्चैश्चक्रायुधमहाप्रभुः। जैनीं दीक्षां समादाय संजातो मुनिसत्तमः ॥१०९॥
 वज्रायुधोपि सद्राज्यं चिरं भुक्त्वा प्रसन्नधीः। एकदा कारणं वीक्ष्य पितुः पार्श्वेऽभवन्मुनिः ॥११०॥
 पंकप्रभात्समागत्य स सर्पो रौद्रमानसः। संजातो निजपापेन भिल्लो नाम्नातिदारुणः ॥१११॥

उसने एक हरिचन्द्र नाम के मुनिराज को देखा, उनसे धर्मोपदेश सुना। धर्मोपदेश का उसके चित्त पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसे बहुत वैराग्य हुआ। संसार, शरीर, भोगादिकों से उसे बड़ी घृणा हुई। उसने उसी समय मुनिराज से दीक्षा ग्रहण कर ली ॥१०९-११०॥

एक दिन रश्मिवेग महामुनि एक पर्वत की गुफा में कायोत्सर्ग धारण किये हुए थे कि एक भयानक अजगर ने, जो कि श्रीभूति का जीव सर्प पर्याय से मरकर चौथे नरक गया था और वहाँ से आकर यह अजगर हुआ, उन्हें काट खाया। मुनिराज तब भी ध्यान में निश्चल खड़े रहे, जरा भी विचलित नहीं हुए। अन्त में मृत्यु प्राप्त कर समाधिमरण के प्रभाव से वे कापिष्ठ स्वर्ग में जाकर आदित्यप्रभ नामक महर्द्धिक देव हुए, जो कि सदा जिनभगवान् के चरणकमलों की भक्ति में लीन रहते थे और वह अजगर मरकर पाप के उदय से फिर चौथे नरक गया। वहाँ उसे नारकियों ने कभी तलवार से काटा और कभी करौती से, कभी उसे अग्नि में जलाया और कभी घानी में पेला, कभी अतिशय गरम तेल की कढ़ाई में डाला और कभी लोहे के गरम खंभों से आलिंगन कराया। मतलब यह कि नरक में उसे घोर दुःख भोगना पड़े ॥१०९-११०॥

चक्रपुर नाम का एक सुन्दर शहर है। उसके राजा हैं चक्रायुध और उनकी महारानी का नाम चित्रादेवी है। पूर्वजन्म के पुण्य से सिंहसेन राजा का जीव स्वर्ग से आकर इनका पुत्र हुआ। उसका नाम था वज्रायुध। जिनधर्म पर उसकी बड़ी श्रद्धा थी। जब वह राज्य करने को समर्थ हो गया, तब महाराज चक्रायुध ने राज्य का भार उसे सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। वज्रायुध सुख और नीति के साथ राज्य का पालन करने लगे। उन्होंने बहुत दिनों तक राज्य सुख भोगा। पश्चात् एक दिन किसी कारण से उन्हें भी वैराग्य हो गया। वे अपने पिता के पास दीक्षा लेकर साधु बन गये। वज्रायुध मुनि एक दिन प्रियंगु

प्रयङ्गुपर्वते सोपि कायोत्सर्गेण संस्थितः। वज्रायुधो मुनिस्तेन हतो भिल्लेन बाणतः ॥११२॥
 मुनिः सर्वार्थसिद्धिं च सम्प्राप्तः पुण्यसम्बलः। भिल्लो मृत्वा तथा पापी सप्तमं नरकं गतः ॥११३॥
 सर्वार्थसिद्धितश्च्युत्वा वज्रायुधचरः सुरः। संजयन्तमुनिर्जातो विख्यातो भुवनत्रये ॥११४॥
 पूर्णचन्द्रः पुरा यस्तु भवैः कैश्चित्सुनिर्मलैः। जयन्ताख्यो मुनिर्भूत्वा जातस्त्वं लोभतोहिराट् ॥११५॥
 दीर्घकालं महादुःखं भुक्त्वा सप्तमदुस्तलात्। स भिल्लस्तु समागत्य नाना तिर्यक्कुयोनिषु ॥११६॥
 भ्रान्त्वा चैरावते क्षेत्रे भूतादिरमणे वने। नदी वेगवती तस्यास्तटे गोशृङ्गतापसः ॥११७॥
 तत्प्रिया शङ्खिनी तस्यां जातो हरिणशृङ्गवाक्। पञ्चाग्निसाधनं कृत्वा मृत्वा जातः खगोप्यसौ ॥११८॥
 विद्युद्भ्रष्टोतिपापिष्ठः पूर्ववैरेण तेन च। उपसर्गो महाश्चक्रे मुनेरेतस्य दारुणः ॥११९॥
 मुनिश्चासौ विशुद्धात्मा निश्चलो मेरुवत्तराम्। संजयन्तो जगत्पूज्यो जित्वा सर्वपरीषहान् ॥१२०॥
 श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं सत्तपो द्योतनादिकम्। कृत्वा मोक्षं सुधीः प्राप्तः संजातोष्टमहागुणी ॥१२१॥
 भो नागेन्द्र त्वया धीमन् ज्ञात्वैवं संसृतेः स्थितिम्। त्यक्त्वा कोपं वराकोयं मुच्यतां नागपाशतः ॥१२२॥
 तच्छ्रुत्वा नागराजोसौ संजगाद महाद्युतिः। भो दिवाकरदेवाख्य यद्ययं मुच्यते मया ॥१२३॥
 शापोस्य दीयते दर्पविनाशाय दुरात्मनः। मा भूत्युसां कुले चास्य विद्यासिद्धिः कदाचन ॥१२४॥

नामक पर्वत पर कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे कि इतने में एक दुष्ट भील ने, जो कि सर्प का जीव चौथे नरक गया था और वहाँ से अब यही भील हुआ, उन्हें बाण से मार दिया। मुनिराज तो समभावों से प्राण त्याग कर सर्वार्थसिद्धि गये और वह भील रौद्रभाव से मरकर सातवें नरक गया ॥१०७-११३॥

सर्वार्थसिद्धि से आकर वज्रायुध का जीव तो संजयन्त हुआ, जो संसार में प्रसिद्ध है और पूर्णचंद्र का जीव उनका छोटा भाई जयन्त हुआ। वे दोनों भाई छोटी ही अवस्था में कामभोगों से विरक्त होकर पिता के साथ मुनि हो गये और वह भील का जीव सातवें नरक से निकल कर अनेक कुगतियों में भटका। उनमें उसने बहुत कष्ट सहा। अन्त में वह मरकर ऐरावत क्षेत्रान्तर्गत भूतरमण नामक वन में बहने वाली वेगवती नाम की नदी के किनारे पर गोशृंग तापस की शंखिनी नाम की स्त्री के हरिणशृंग नामक पुत्र हुआ। वही पंचाग्नि तप तपकर यह विद्युद्भ्रष्ट विद्याधर हुआ है, जिसने कि संजयन्त मुनि पर पूर्वजन्म के बैर से घोर उपसर्ग किया और उनके छोटे भाई जयन्त मुनि निदान करके जो धरणेन्द्र हुए, वे तुम हो ॥११४-११९॥

संजयन्त मुनि पर पापी विद्युद्भ्रष्ट ने घोर उपसर्ग किया, तब भी वे पवित्रात्मा रंचमात्र विचलित नहीं हुए और सुमेरु के समान निश्चल रहकर उन्होंने सब परीषहों को सहा और सम्यक्त्व तप का उद्योत कर अन्त में मोक्ष प्राप्त किया। वहाँ उनके अनन्तज्ञानादि स्वाभाविक गुण प्रकट हुए। वे अनन्त काल तक मोक्ष में ही रहेंगे। अब वे संसार में नहीं आवेंगे ॥१२०-१२१॥”

दिवाकर ने कहा—नागेन्द्रराज! यह संसार की स्थिति है। इसे देखकर इस बेचारे पर तुम्हें क्रोध करना उचित नहीं। इसे दया करके छोड़ दीजिये। सुनकर धरणेन्द्र बोला, मैं आपके कहने से इसे छोड़ देता है; परन्तु इसे अपने अभिमान का फल मिले, इसलिए मैं शाप देता हूँ कि —“मनुष्य पर्याय में

किं तु श्रीसंजयन्तस्य प्रतिमाग्रे सुभक्तितः । नाना सद्गन्धधूपाद्यैः स्त्रीणां तत्सिद्धिरस्तु वै ॥१२५॥
 इत्युक्त्वा तं विमुच्याशु सुधी नागाधिपस्तदा । जगाम स्थानकं स्वस्य मुनिभक्तिपरायणः ॥१२६॥
 इत्युत्कटतपोलक्ष्मीं भुक्त्वा लक्ष्मीं च शाश्वतीम् । संजयन्तमुनिः प्राप्तः सोऽस्माकं सत्सुखं क्रियात् ॥१२७॥
 अर्हत्पादसरोजयुग्ममधुलिट् सद्बोधसिन्धुः सुधीः सच्चारित्रविचित्ररत्ननिचयः श्रीकुन्दकुन्दान्वये ।
 श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः संसारनिस्तारकः कुर्यान्मे वरमङ्गलानि नितरां भव्यैर्जनैः सेवितः ॥१२८॥
 इति कथाकोशे सत्तपोद्योतिनी श्रीसंजयन्तमुनेः कथा समाप्ता ।

६. अंजनचोरस्य कथा

श्रीसर्वज्ञपदाम्भोजं नत्वा सारसुखप्रदम् । निःशङ्कितगुणोद्योते चरित्रं रचयाम्यहम् ॥१॥
 अत्रैव भरतक्षेत्रे देशे मगधसंज्ञके । श्रेष्ठी राजगृहे नाम्ना नगरे जिनदत्तवाक् ॥२॥
 श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः । दानपूजाव्रताद्युक्तश्रावकाचारमण्डितः ॥३॥
 एकदाऽसौ चतुर्दश्यां रात्रौ रौद्रे श्मशानके । त्रिधा वैराग्यसंयुक्तः कायोत्सर्गेण संस्थितः ॥४॥
 तदामितप्रभो देवो जिनभक्तिपरायणः । अन्यो विद्युत्प्रभो देवो मिथ्यादृष्टिमतेक्षणः ॥५॥

इसे कभी विद्या की सिद्धि न हो ।” इसके बाद धरणेन्द्र अपने भाई संजयन्त मुनि के मृत शरीर की बड़ी भक्ति के साथ पूजा कर अपने स्थान पर चला गया ॥१२२-१२६॥

इस प्रकार उत्कृष्ट तपश्चर्या करके श्री संजयन्त मुनि ने अविनाशी मोक्षश्री को प्राप्त किया । वे हमें भी उत्तम सुख प्रदान करें ॥१२७॥

श्रीमल्लिभूषण गुरु कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में हुए । जिनभगवान् के चरण कमलों के भ्रमर थे, उनकी भक्ति में सदा लीन रहते थे, सम्यग्ज्ञान के समुद्र थे, पवित्र चारित्र के धारक थे और संसार समुद्र से भव्य जीवों को पार करने वाले थे । वे ही मल्लिभूषण गुरु मुझे भी सुख-सम्पत्ति प्रदान करें ॥१२८॥

६. अंजनचोर की कथा

सुख के देने वाले श्रीसर्वज्ञ वीतराग भगवान् के चरण कमलों को नमस्कार कर अंजनचोर की कथा लिखता है, जिसने सम्यग्दर्शन के निःशंकित अंग का उद्योत किया है ॥१॥

भारतवर्ष-मगधदेश के अन्तर्गत राजगृह नामक शहर में एक जिनदत्त सेठ रहता था । वह बड़ा धर्मात्मा था । वह निरन्तर जिनभगवान् की पूजा करता, दीन-दुखियों को दान देता, श्रावकों के व्रतों का पालन करता और सदा शान्त और विषयभोगों से विरक्त रहता । एक दिन जिनदत्त चतुर्दशी के दिन आधी रात के समय श्मशान में कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था । उस समय वहाँ दो देव आये । उनके नाम अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ थे । अमितप्रभ जैनधर्म का विश्वासी था और विद्युत्प्रभ दूसरे धर्म का ।